वीर संवत २४९२, माध कृष्ण १, रविवार

दि.६-२-१९६६, गाथा १० से १२, प्रवचन नं.-१८

यह श्री 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। तीसरी ढाल की १० वीं गाथा का भावार्थ है। इसमें ५८ पृष्ठ है। अर्थ आ गया है, भावार्थ बाकी है। देखो ! क्या कहते हैं ? देखो ! भावार्थ है। इसमें क्या अधिकार है ? कि यह आत्मा है न ? देह से भिन्न आत्मा है। इस आत्मा का अन्तर में वस्तु स्वरूप ऐसा है कि अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द, ज्ञान और शान्ति भरी है। इस देह में आत्मा है न ? यह देह तो जड़ मिट्टी, जड़ है, धूल है। इसमें रहा हुआ आत्मतत्त्व है, उसमें अनन्त शान्ति, अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान, दर्शन और बल भरा हुआ तत्त्व है। इस तत्त्व का अन्तर में सम्यग्दर्शन प्रकट करके और शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ – ऐसा अन्तर में विश्वास में लाकर उसकी ओर का प्रयत्न करना, जो शुद्धता भरी है, उसे प्रकट करना, इसका नाम आत्मतत्त्व की श्रद्धा, आत्मतत्त्व का मोक्षमार्ग है और पूर्ण शुद्धता प्रकट हो, उसे मोक्ष कहते हैं। इस दुनिया की शिक्षा से यह अलग शिक्षा है। इसने अनन्त काल में यह नहीं किया है।

यहाँ यह पहली बात आयी है। देखो ! '**मोक्ष का परम स्वरूप पहिचानकर, उसे अपना परमहित मानना...**' यह आत्मा है; यह देह तो जड़ है छूट जाती है, उसे पता है कि यह कोई आत्मा नहीं है। अन्दर कर्म जिसे कहते हैं – आठ कर्म; जिसे प्रारब्ध कहते हैं, वह भी जड़ कर्म है, वह कोई आत्मा नहीं है। उसमें पुण्य और पाप के भाव शुभ–अशुभरागादि होते हैं, वह तो विकार है। उस विकार से रहित आत्मा की चीज़ शुद्ध है। उसका भान करके उसकी पूर्ण आनन्द अवस्था आत्मा में प्रकट करने को मोक्ष अवस्था कहते हैं। वह जीव को परमहित है। उस हित का कारण वह आनन्द है।

आत्मा के स्वभावमें से शुद्धता प्रकट करके, परम अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा की वर्तमान अवस्था में, स्वभाव में है, वैसी वर्तमान अवस्था में अन्तर्मुख के स्वभाव का ध्यान

करके पूर्णानन्द की प्राप्ति करना, वह जीव का सुखरूप परम ध्येय और हित है। समझ में आया ? इसके बिना सब धूलधाणी है। भाई ! आत्मा अन्दर में सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में तीन लोक - तीन काल का ज्ञान, आत्मा के ज्ञान में परम ज्ञान होने पर सब ज्ञात हो गया। ऐसे भगवान परमेश्वर ने जो आत्मा और उसकी जो मोक्ष अवस्था देखी, जानी और कही; वह इस जगत को आत्मा की अवस्था परम हितकर है - ऐसा इसे जानना चाहिए।

पुण्य-पाप के भाव आदि हो, वह हितकर नहीं; यह बाह्य की संयोगी चीज़ें - यह धूल-पैसा, स्त्री-पुत्र-परिवार तो पर है; ये कहीं हितकर नहीं है। आत्मा में, आत्मा और जड़ दो पृथक् हैं - ऐसा जानना और जानकर स्वयं अपने लिये प्रयास करना तथा पर को जानकर उससे उदास होना। ऐसा जड़ और आत्मा का दो का ज्ञानपने में ज्ञानपने का यह प्रयोजन है। फिर आत्मा में पुण्य और पाप के भाव शुभ-अशुभभाव हों, वह आस्रव है, वे अहितकर हैं। वे अहितकर है; आदरणीय नहीं, क्योंकि पुण्य और पाप के भाव दु:खरूप है। कठिन बात ! वे दु:खरूप है; संयोग दु:खरूप नहीं, बाहर के पदार्थ दु:खरूप नहीं। आत्मा अपने आनन्दस्वरूप को भूलकर, जितना पुण्य और पाप का शुभ और अशुभ का भाव करे, (वह दु:खस्वरूप है)। यह अपने ऊपर आ गया है। समझ में आया ? आस्रव दु:खकारी आया था न ? '**ये ही आतम को दु:खकारण तातैं इनको तजिये;...**' नौंवी गाथा में है न ? '**ये ही आतम को दु:खकारण तातैं इनको तजिये;...**' आत्मा में जो शुभ और अशुभभाव-विकार होता है, वह दु:ख का कारण है, बाह्य चीज़ दु:ख का कारण नहीं है। यह शरीर, पैसा सुख का कारण भी नहीं है और दु:ख का कारण भी नहीं है।

आत्मा में अतन्द्रिय आनन्द (भरा है)। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। सत् अर्थात् शाश्वत ज्ञान और आनन्द का भण्डार आत्मा है। उसका इसने अनन्त काल में पता नहीं किया है। उसका पता करके, उसके ज्ञान में जो कुछ विपरीत पुण्य और पाप के भाव होते हैं; उन्हें इसे दु:ख का कारण जानना चाहिए। दु:ख का कारण जाने तो उन्हें छोड़े और आत्मा परमानन्द की मूर्ति है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करे तो यह संवर (होवे और) वह सुखरूप है, वह उपादेय है, ग्रहण करने योग्य है (- ऐसा माने) तो उसे शूरू करें और पूर्व के कर्म तथा अशुद्धता को

मिटाने को शुद्धता की एकाग्रता करे, उसे निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा हित का कारण है और पूर्ण शुद्धि परमहित है।

मुमुक्षु :- ऐसी स्पष्ट...

उत्तर :- ऐसी स्पष्ट है न ? देखो न ! अपने आ गया है या नहीं ? भाई ! इन्हें तो पूरा कण्ठस्थ हैं। यह इनके लिए तो शुरू की थी परन्तु पन्द्रह दिन विलंब से आये। यहाँ हमारे तो समय पर चलता है। यह कह गये थे कि इस पर व्याख्यान करना। इन्होंने कहा था या नहीं ? और (दूसरी एक बिहन) कह गयी थी कि 'छहढाला' पर व्याख्यान करे तो ठीक। यहाँ हमारे तो समय हो गया था, इसलिए हमने तो शुरु कर दिया। कहो, समझ में आया इसमें ?

भगवान आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द की कतली है। कैसे बैठे ? आनन्द कहीं बाहर में नहीं है। पैसे में, धूल में, स्त्री, पुत्र, परिवार, प्रतिष्ठा, हजीरा... हजीरा अर्थात् यह मकान - इनमें कहीं सुख नहीं है तथा ये सुख का निमित्त भी नहीं है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, पूर्णानन्दस्वरूप है। उसका विश्वास करके, पूर्ण मोक्ष की अवस्था प्रकट करना - इसका नाम परम हित है। कहो, समझ में आया ? इस '**मोक्ष का स्वरूप पहिचानकर, उसे अपना परमहित मानना...**'

'**आठ कर्मों का सर्वथा नाश होने पूर्वक आत्मा की जो सम्पूर्ण शुद्ध अवस्था...**' देखो ! अवस्था है। मोक्ष, आत्मा की एक अवस्था है; मोक्ष, वह गुण नहीं है। आत्मा में गुण तो पूर्ण-पूर्ण आनन्द मोक्षस्वरूप ही पड़ा है। शक्तिरूप से आत्मा आनन्द है, आनन्द है, वह तो त्रिकाल मुक्तस्वरूप ही है। उसकी आनन्द अवस्था प्रकट करने का नाम मोक्ष कहा जाता है। मोक्ष कहीं दूसरी चीज़ नहीं है। इसलिए तो कहा है न, भाई ! इसमें आया था न ! '**सकल कर्म तैं रहित अवस्था...**' यह अवस्था है, गुण नहीं। '**सो शिव, थिर सुखकारी।**' क्या कहा ? आत्मा में कर्म का नाश करके पमरानन्द की पूर्ण अवस्था प्रकट करना, वह स्थिर अर्थात् अविनाशी (मोक्ष अवस्था हैं)। देखो ! '**... अवस्था अविनाशी और अनन्त सुखमय है।**' वही आत्मा की पूर्ण आनन्द अवस्था अविनाशी अर्थात् स्थिर रहनेवाली है। यह सब (बाहर का) स्थिर नहीं है, कहते हैं। संवर-निर्जरा एक समय की अमुक पर्याय है। यह (-मोक्ष अवस्था) तो

फिर ऐसी की ऐसी स्थिर रहेगी। इसलिए 'स्थिर' शब्द का प्रयोग किया है।

पुण्य-पापभाव तो दु:खरूप अस्थिर है, बाह्य संयोग अस्थिर हैं, मोक्ष का मार्ग भी स्थायी नहीं रहता; वह तो मोक्ष हो तब तक थोड़े काल रहता है। मोक्ष हो तो वह ऐसा का ऐसा स्थिर रहता है। आत्मा की शुद्ध आनन्द अवस्था प्रकट होने पर वह अवस्था स्थिर (रहती है)। जब से प्रकट हो, वह अनन्त काल वह अवस्था रहती है। स्थिर और अनन्त सुखमय, फिर है न ? पाठ में ही यह सब है। देखो ! स्थिर सुख... इसका अर्थ यह किया कि **'शिव थिर सुखकारी।'** कल्याणस्वरूप और सुख का कारण तथा अविनाशी। एक मोक्ष अवस्था ही आत्मा को प्रकट करने योग्य है, अन्य कुछ करने योग्य नहीं है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

'इस प्रकार सामान्य और विशेषरूप से सात तत्त्वों की अचल श्रद्धा करना, उसे व्यवहार समकित (सम्यग्दर्शन) कहते हैं।' क्योंकि आत्मा अनन्त आनन्दादि स्वरूप महान अनन्त गुण का पुंज है। उसका अन्दर निर्विकल्प-रागरहित-आत्मा के अनुभव की श्रद्धा करना, अनुभव करके श्रद्धा करना - इसका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है, इसका नाम सच्चा सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा तीर्थंकरदेव त्रिलोकनात परमेश्वर जिनवर ने ऐसा कहा है कि भाई ! अन्दर आत्मा पूर्ण आनन्द और शान्ति का सागर है न ? ऐसे आत्मा की अन्तर्मुख होकर, स्वसन्मुख होकर, पर से विमुख होकर स्वभाव की सन्मुखता की, रागरहित वीतरागी श्रद्धा स्वभाव में करने का नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है। वह सच्चा दर्शन है, वह मोक्ष का कारण है, संवर-निर्जरा रूप है और सुख रूप है। वह निश्चय सम्यग्दर्शन मोक्ष का कारण है, संवर-निर्जरारूप है, वर्तमान सुखरूप है। समझ में आया ? उसके साथ वह सात तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा है, यह शुभरागरूप है, विकल्परूप है, निमित्तरूप-निश्चयमोक्षमार्ग को निमित्तरूप है; बन्ध का कारण है; वस्तुत: तो यह दु:खरूप है, तथापि निश्चयसम्यग्दर्शन के भान में इसे ऐसे सात तत्त्वों के भेद का विकल्प सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित तत्त्वों का (भेदरूप विकल्प होता है)। सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित तत्त्व; अज्ञानियों द्वारा कथित नहीं। परमेश्वर वीतरागदेव, जिसने एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल - तीन लोक जाने हैं - ऐसे भगवान द्वारा कथित जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष की - सात तत्त्वों

की व्यवहार से अचल श्रद्धा करने का नाम व्यवहार सम्यग्दर्शन है, अर्थात् इसका नाम शुभ उपयोग है। तात्पर्य यह कि निश्चयसम्यग्दर्शन तो शुद्ध परिणति है; जबकि यह व्यवहार सम्यग्दर्शन, अशुद्ध-शुभरागरूप परिणति-पर्याय है। आहा..! कितना भरा है ! गागर में सागर भर दिया है, लो ! समझ में आया ?

कहते है, **'जिनेन्द्रदेव, वीतरागी (दिगम्बर जैन) गुरु...'** सन्त **'तथा जिनेन्द्र प्रणीत अहिंसामय धर्म...'** यह भी व्यवहार सम्यग्दर्शन का कारण अर्थात् तीनों का यथार्थ श्रद्धान, **'इन तीनों का यथार्थ श्रद्धान भी व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है।'** यह निश्चय आत्मा का भान, सम्यक् होवे, तब व्यवहार सम्यग्दर्शन में ऐसा शुभराग उसे होता है। सच्चे सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थ वीतरागी दिगम्बर भावलिंगी मुनि और बाह्य नग्न द्रव्यलिंग तथा बाह्य में अहिंसा धर्म जो भगवान परमेश्वर ने कहा कि रागरहित अवस्था-अहिंसा की उत्पत्ति हो, उसे भगवान ने धर्म कहा है। ऐसे देव-गुरु और धर्म की श्रद्धा हो, उसे शुभरागरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन (कहा जाता है)। अशुद्ध परिणति को अनुकूल निमित्त-निश्चयसम्यग्दर्शन में ऐसा अनुकूल निमित्त व्यवहार से देखकर उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है। समझ में आया ?

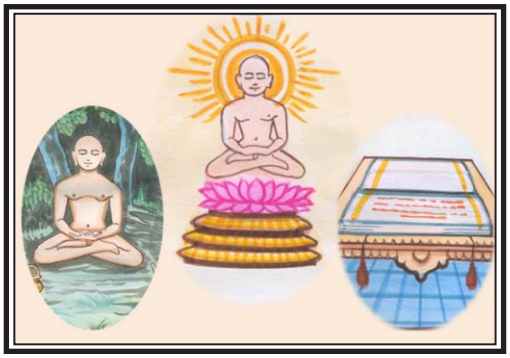

मुमुक्षु :- व्यवहार मार्ग अलग...

उत्तर :- यह पूरा अलग ही अर्थ करते हैं। यह 'नियत को हेतु' - निमित्त कहते हैं। व्यवहारनय से निमित्त है, व्यवहारनय से साधन है, व्यवहारनय से कारण है; वस्तुतः वह नहीं है। वे तो व्यवहार से निश्चय होता है - ऐसा कहते हैं - यह बात ही मिथ्या है। निर्विकल्प भगवान आत्मा की श्रद्धा, राग-व्यवहार हो तो उससे होती है - ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया ? इसलिए नियत (का) हेतु कहा न ? निमित्त कहा है। नियत का निश्चय का हेतु-कारण (कहा है)। कारण, अर्थात् व्यवहार कारण है। व्यवहार कारण का अर्थ निमित्त की

ऐसी अनुकूलता, सच्ची सम्यग्दर्शन अवस्था हो, वहाँ उसे ऐसे ही व्यवहार के विकल्प शुभरागरूप उसकी अवस्था में होते हैं; इस कारण उसे व्यवहार कहा है; वास्तव में वह सम्यग्दर्शन है ही नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन, श्रद्धागुण की पर्याय है। यह व्यवहार सम्यग्दर्शन उस श्रद्धा गुण की पर्याय नहीं है; यह तो शुभराग है। यह सब समझना ! लोगों को व्यापार के कारण, खाने-पीने और पाप करने की आड़ में फुरसत नहीं मिलती। भाई ! फुरसत नहीं मिलती। (यह भाई) अभी लिखते हैं। लिखकर फिर किसे भेजना है ? कहो, समझ में आया ?

भगवान आत्मा अकेला चैतन्य पिण्ड और आनन्द का रस, पूर्ण सामान्य एक स्वरूप की अन्तर्मुख की सम्यग्दृष्टि हो, उसे निश्चय सत्यदृष्टि कहते हैं; उसे संवर-निर्जरा कहते हैं। उसमें साथ में ऐसा भाव (होता है)। सच्चे सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कथित सात त्तवों के भेदवाला श्रद्धा भाव व्यवहार से अनुकूल देखकर, पूर्ण वीतरागता नहीं है, इसलिए ऐसा शुभराग अशुद्धपरिणतिरूप होता है। उसे निमित्तरूप से निश्चय का निमित्तरूप से कारण कहा जाता है। समझ में आया ?

'उसे निम्नोक्त आठ अंगो सहित धारण करना चाहिए। व्यवहार समकिती का स्वरूप पहले, दूसरे तथा तीसरे छन्द के भावार्थ में समझाया है। निश्चय समकित के बिना...' अर्थात् आत्मा (की) निश्चय निर्विकल्प श्रद्धा के भान बिना मात्र 'व्यवहार को व्यवहार समकित नहीं कहा जाता।' माल के बिना थेली किसकी ? ऐसा नहीं कहा जाता। यह थेली किसकी ? चावल की, गेहूँ की या दाल की ? माल डाले तब कहा जाता है कि यह चावल की थेली है। थेली तो थेली है। समझ में आया ? ऐसे निश्चय समकित माल हो तो उसकी निमित्त थेली वह व्यवहार समकित उसे कहा जाता है। ऐसी बात है। समझ में ाया ? माल के बिना थेली कहना किसे ? वह तो अकेली बोरी (थेली) कहलाती है। बोरी, चावल की थेली, दाल की थेली, शक्कर की थेली किसे कहना ? माल के बिना अकेली बोरी कहलाती है। कहो समझ में आया इसमें ? यह तो इन भाई को पूरा कण्ठस्थ है। बहुत वर्षों से इन्हे... है। कितनी बिक्री हुई। इन्हों ने कितनी बेची ? पन्द्रह हजार विक्रय हुई है। अब यह व्याख्यान हुए। समझ में आया ? यह होता है न, यह पूरा व्याख्यान होता है। देखो न ! यह अठारहवां व्याख्यान है।

पोष कृष्ण दशमी, रविवार को शुरु किया है। यह रविवार आया, बाईस दिन हुए न ? उनमें तीन दिन बन्द था। कहो, समझ में आया ?

भगवान आत्मा, जिसमें माल... माल... माल... भरा है। आत्मा में अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन... एक-एक गुण अनन्त-अनन्त प्रभुता, अनन्त स्वच्छता, अनन्त विभुता, अनन्त कार्य हो वैसा कारण, अनन्त कारण हो, वैसी करणरूप शक्ति (पड़ी है)। समझ में आया ? ऐसे अनन्त-अनन्त गुण। परंतु जिसका स्वभाव उसे अन्त क्या कहना ? ऐसा भगवान, वस्तु आत्मा में ऐसा अनन्त स्वभाव भाव अनन्त माल पड़ा है। उसकी अन्तर में पर से विमुख होकर; पर की, रागादि की उपेक्षा करके शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा अर्थात् उस पर दृष्टि करके और एकत्वबुद्धि में आत्मा की दृष्टि, अनुभव होना, उसे सच्चा समकित-मोक्ष का साक्षात् कारण - वह स्वयं ही मोक्षमार्ग है। उसमें व्यवहार समकित होता है, साथ में होता अवस्च है; पूर्ण वीतराग न हो, (तब) भगवान द्वारा कथित छह द्रव्य, भगवान परमेश्वर द्वारा कथित नौ तत्त्व, उसके व्यवहार के भेद, उसकी श्रद्धा में शुभराग में आते है; इस कारण उसे व्यवहार कारण के रूप से कहा जाता है; परन्तु निश्चय न हो, उसे व्यवहार किसका ? जहाँ वस्तु ही नहीं है, वहाँ व्यवहार कहना किसे ? यह बात करते है।

मुमुक्षु :- ... व्यवहार...

उत्तर :- व्यवहार, परन्तु किसका व्यवहार ? माल के बिना व्यवहार किसका ? पहली वस्तु ही यह है। चैतन्य ज्ञायकमूर्ति आनन्द के स्पर्श बिना, उसके स्पर्श बिना, वह आये बिना इसे व्यवहार कहे कौन ? जाने कौन ? समझ में आया ? कठिन, सूक्ष्म बात। यह अभी बड़ा विवाद है न ? व्यवहार करते-करते (निश्चय) होगा... प्रथम चौथे, पाँचवे, छठवें, सातवें में व्यवहार फिर आठवें में निश्चय (होता है)। अरे... भगवान ! अरे..! स्वयं भगवान आत्मा न हो, (वहाँ) दूसरा व्यवहार आया कहाँ से ? समझ में आया ?

समकित के पच्चीस दोष तथा आठ गुण

वसु मद टारि निवारी त्रिशठता, षट् अनायतन त्यागो;
शंकादिक वसु दोष बिना, संवेगादिक चित्त पागो।

अष्ट अंग अरु दोष पचीसों, तिन संक्षेपै कहिये;
बिन जानेतैं दोष गुननको, कैसे तजिये गहिये।।११।।

अन्वयार्थ :- (वसु) आठ (मद) मद का (टारि) त्याग करके, (तिरसठता) तीन प्रकार की मूढता को (निवारि) हटाकर, (षट्) छह (*अनायतन) अनायतनों का (त्यागो) त्याग करना चाहिए। (शंकादिक) शंकादि (वसु) आठ (दोष बिना) दोषों से रहित होकर (संवेगादिक) संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशम में (चित) मन को (पागो) लगाना चाहिए। अब समकित के (अष्ट) आठ (अंग) अंग (अरू) और (पचीसों दोष) पच्चीस दोषों को (संक्षेपैं) संक्षेप में (कहिये) कहा जाता है। क्योंकि (बिन जाने तैं) उन्हें जाने बिना (दोष) दोषों को (किसे) किस प्रकार (तजिये) छोड़े और (गुननको) गुणों को किस प्रकार (गहिये) ग्रहण करें ?

भावार्थ :- आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन (अधर्मस्थान) और आठ शंकादि दोष :- इस प्रकार समकित के पच्चीस दोष हैं। संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशम सम्यग्दृष्टि को होते हैं। समकित के अभिलाषी जीव को समकित के इन पच्चीस दोषों का त्याग करके उन भावनाओं में मन लगाना चाहिए। अब समकित के आठ गुणों (अंगो) और पच्चीस दोषों का संक्षेप में वर्णन किया जाता है; क्योंकि जाने और समझे बिना दोषों को कैसे छोड़ा जा सकता है, तथा गुणों को कैसे ग्रणह किया जा सकता है ?।।११।।

अब '**समकित के पच्चीस दोष तथा आठ गुण**' कहते हैं। देखो !

वसु मद टारि निवारी त्रिशठता, षट् अनायतन त्यागो;
शंकादिक वसु दोष बिना, संवेगादिक चित्त पागो।
अष्ट अंग अरु दोष पचीसों, तिन संक्षेपै कहिये;
बिन जानेतैं दोष गुननको, कैसे तजिये गहिये।।११।।

---

* अन + आयतन = अनायतन = धर्म का स्थान न होना।

यह व्यवहार समकित के दोष की बात है, हाँ ! निश्चय तो आत्मा की प्रतीति-सम्यग्दृष्टि हुई, वह निश्चय है। उसके साथ ऐसे दोषरहित व्यवहार सम्यग्दर्शन का विकल्प-शुभराग यथार्थ होना चाहिए। कहो, समझ में आया ? यह व्यवहार समकित की बात है। निश्चय तो अकेला अभेद है।

'**आठ मद का त्याग करके...**' देखो ! व्यवहार समकित में भी आठ मद का त्याग होता है। जहाँ भगवान आत्मा अखण्ड परिपूर्ण अनन्त-अनन्त केवलज्ञान और आनन्द की खान का सागर जहाँ प्रतीति में लिया, उसे किल्प में अल्पज्ञान या बाहर की चीज़ का अभिमान नहीं होता। समझ में आया ? समकिती चक्रवर्ती छह खण्ड के राज्य में पड़ा हो, जिसके घर में छियानवैं हजार पद्मनी जैसी रानियाँ हों, छह खण्ड का राज्य हो, सोलह हजार देव तो जिसकी सेवा-तैनाती में खड़े हों; सम्यग्दर्शन (सहित हों)। हम इस प्रजा से, दूसरे से इस ऋद्धि से अधिक हैं - ऐसा उसे अभिमान नहीं होता। आहा..हा... !

'**बसु मद...**' आठ मद। स्पष्टीकरण आयेगा। उन्हें टाले। मद नहीं होता; सम्यग्दृष्टि को व्यवहार समकित में पर का मद नहीं होता। आहा..हा... ! जिसने परमेश्वर का पहलू देखा, परमेश्वर भगवान आत्मा के पक्ष में चढ़ा, अब उसे कमी क्या है कि फिर बाहर के किसी अल्पज्ञान में, जाति, कुल में उसे अभिमान हो ? नहीं होता - ऐसा कहते हैं। जिसका मक्खन जैसा कलेजा नरम.. नरम... नरम... नरम... नरम होता है। समझ में आया ? आठ मद को टालकर '**तीन प्रकार की मूढ़ता को हटाकर...**' इसका स्पष्टीकरण करेंगे, हाँ ! देव-गुरु और धर्म की मूढ़ता नहीं होती। आत्मा का भान है, वहाँ उसे ऐसे व्यवहार में मूढ़ता नहीं होती। सच्चे सर्वज्ञ परमेश्वर देव के अतिरिक्त दूसरे को व्यवहार में नहीं मानता। व्यवहार में (नहीं मानता); निश्चय में तो आत्मदेव माना है। आहा..हा.. !

निर्ग्रन्थ गुरु दिगम्बर मुनि आत्मज्ञानी-ध्यानी संवर-निर्जरा की उत्कृष्ट अवस्था से परिणमित (होते हैं)। समझ में आया ? उसमें उसे उलझन नहीं होती कि यह गुरु होंगे या दूसरे गुरु होंगे ? निर्ग्रन्थ गुरु मोक्ष के मार्ग में (होते हैं)। उन्हें वह स्वीकार करता है और धर्म-अहिंसा। राग की उत्पत्ति मात्र हिंसा (है।) राग की अनुत्पत्ति वह अहिंसा है। उसमें उसे मूढ़ता नहीं होती कि यह सब ऐसी दया पालते हैं और ऐसा यह करते हैं, उन्हे कुछ अहिंसा का लाभ

होगा या नहीं ? वह ठीक से समझता है। समझ में आया ? आहा..हा... ! इन तीन मूढ़ता को हटाकर।

'**छह अनायतन...**' धर्म के अस्थान - धर्म के स्थान नहीं। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और उनके माननेवाले सेवक। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और उन्हें माननेवाले उनके सेवक। ये तीन धर्म के अस्थान हैं। ये धर्म में निमित्त भी नहीं है - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- ... कुल हो ?

उत्तर :- वह व्यवहार साधारण हो, उसकी बात नहीं है। यह पहले से बचाव नहीं होता। समझ में आया ? निश्चय में उसे ऐसा स्पष्ट व्यवहार होता है। सहज कोई साधारण मद आदि दोष हों - वह बात नहीं है। पहले से बचाव नहीं होता। समझ में आया ?

(छह अनायतनों का) '**त्याग करना चाहिए।**' समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि जीव को व्यवहार समकित में भी कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और उनके माननेवालों को धर्म में निमित्तरूप से भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। (वे) धर्म के स्थान ही नहीं हैं। यह बात जगत को कठोर (लगती) है। उसका व्यवहार ऐसा होता है। निश्चयसम्यग्दर्शन हो, उसे ऐसा व्यवहार होता है। उसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का अनुमोदन नहीं होता; उनके माननेवालों का अनुमोदन नहीं होता। समझ में आया ? अभी तो बहुत परिवर्तन-परिवर्तन हो गया है। लोग मानते हैं और ऐसा होता है।

'**शंकादि आठ दोषों से रहित होकर...**' लो ! समझ में आया ? शंका, कांक्षा आदि है न ? समकित के आठ गुण हैं, उनसे विपरीत आठ दोष हैं; उनका उसे त्याग होता है। '**संवेग अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशम में मन को लगाना चाहिए।**' जिसे विकल्प में भी आत्मा के स्वभाव की तरफ का वेग हो, अकषाय भाव की अनुकम्पा हो। समझ में आया ? और विकल्प हो। अकषाय भाव की अनुकम्पा (होती है)। किसी प्राणी को दु:खी देखकर अनुकम्पा होती है, आस्तिक्यता होती है - यह सब व्यवहार है, हाँ ! प्रशम है और कषाय की मन्दता है। उसमें उसे चित्त को लगाना चाहिए।

'**अब समकित के आठ अंग और जो पच्चीस दोष हैं, उन्हें संक्षेप में कहा जाता है,**

क्योंकि (बिन जानेतैं) उन्हें जाने बिना दोषों को किस प्रकार छोड़े...' जाने बिना, यह दोष है – यह सर्प है या बिच्छु है – यह जाने बिना किस प्रकार छोड़ना ? – इसी प्रकार दोष को जाने बिना दोष छूटेंगे किस प्रकार ? **'और गुणों को किस प्रकार ग्रहण करे ?'** देखो ! ग्रहण-त्याग है न ? ग्रहण-त्याग है न ? विकल्प है अवश्य न ? दोष को जाने बिना छोड़ना क्या ? और गुणों को जाने बिना गुण ग्रहण करना क्या ? अन्दर में व्यवहार समकित की बात है न ? निश्चय स्वरूप में तो कुछ ग्रहण-त्याग है नहीं। यह तो (जिसे) अखण्ड ज्ञानमूर्ति चिदानन्द की अन्तर प्रतीति, अनुभव हो, उसे ग्रहण-त्याग नहीं होता, वह तो विकल्प रहित बात है। इस व्यवहार समकित में ऐसा विकल्प होता है कि ऐसे दोष छोड़ना चाहिए और ऐसे गुण ग्रहण करना चाहिए – ऐसा भाव व्यवहार समकित में होता है।

'भावार्थ :- आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन...' अन-आयतन। आयतन अर्थात् स्थान-घर होता है। अ अर्थात् नहीं। वह धर्म का घर नहीं, धर्म का स्थान नहीं। **'और आठ शंकादि दोष - इस प्रकार समकित के पच्चीस दोष हैं। संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशम सम्यग्दृष्टि को होते हैं। समकित के अभिलाषी जीव को समकित के इन पच्चीस दोषों को त्याग करके उन भावनाओं में मन लगाना चाहिए।'** पाठ में था न ? **'चित्त पागो।'** है न ? **'संवेगादिक चित्त पागो। अब समकित के आठ गुण (अंगो)...'** निःशंक आदि **'और पच्चीस दोषों का वर्णन किया जाता है, क्योंकि जाने और समझे बिना दोषों को कैसे छोड़ा जा सकता है तथा गुणों को कैसे ग्रहण किया जा सकता है ?'** लो ! बारहवीं गाथा।

समकित के आठ अंग (गुण) और शंकादि आठ दोषों का लक्षण

जिन वचमें शंका न धार वृष, मव-सुख-वांछा भानै;
मुनि-तन-मलिन न देख धिनावे, तत्त्व-कुतत्त्व पिछानै।
निज गुण अरु पर औगुण ढाके, वा निजधर्म बढ़ावै;
कामादिक कर वृषतैं चिगते, निज-परको सु दिढावै॥१२॥

गाथा १३ (पूर्वार्ध)

धर्मी सों गौ-वच्छ-प्रीति सम, कर जिनधर्म दिपावै;

इन गुणतैं विपरीत दोष वसु, तिनकों सतत खिपावै।

अन्वयार्थ :- १ - (जिन वचमें) सर्वज्ञदेव के कहे हुए तत्त्वों में (शंका) संशय-सन्देह (न धारण) (धारण नहीं करना) (सो नि:शंकित अंग है); २ - (वृष) धर्म को (धार) धारण करके (भव-सुख-वांछा) सांसारिक सुखों की इच्छा (भानै) न करे (सो नि:कांक्षित अंग है); ३ - (मुनि-तन) मुनियों के शरीरादि (मलिन) मैले (देख) देखकर (न चिनावै) धृणा न करना (सो निर्विचिकित्सा अंग है) ४ - (तत्त्व-कुतत्त्व) सच्चे और झूठे तत्त्वों को (पिछानै) पहिचान रखे (सो अमूढ़ दृष्टि अंग है); ५ - (निजगुण) अपने गुणों को (अरु) और (पर औगुण) दूसरे के अवगुणों को (ढांके) छिपाये (वा) तथा (निजधर्म) अपने आत्मधर्म को (बढ़ावै) बढ़ाये अर्थात् निर्मल बनाए (सो उपगूहन अंग है); ६ - (कामादिक कर) काम-विकारादि के कारण (वृषतैं) धर्म से (चिगते) च्युत होते हुए (निज-परको) अपने को तथा पर को (सु दिढ़ावै) उसमें पुन: दृढ करे (सो स्थितिकरण अंग है।) ७ - (धर्मी सों) अपने साधर्मीजनों से (गौ-वच्छ-प्रीति सम) बछड़े पर गाय की प्रीति समान (कर) प्रेम रखना (सो वात्सल्य अंग है) और (जिनधर्म) जैनधर्म की (दिपावै) शोभा में वृद्धि करना (सो प्रभावना अंग है)। (इन गुणतैं) इन (आठ) गुणों से (विपरीत) उल्टे (वसु) आठ (दोष) दोष हैं, (तिनको) उन्हें (सतत) हंमेशा (खिपावे) दूर करना चाहिए।

भावार्थ :- (१) तत्त्व यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है तथा अन्य नहीं है तथा अन्य प्रकार से नहीं है, - इस प्रकार यथार्थ तत्त्वों में अचल श्रद्धा होना सो नि:शंकित अंग कहलाता है।

टिप्पणी :- अव्रती सम्यग्दृष्टि जीव भोगों को कभी भी आदरणीय नहीं मानते; किन्तु जिसप्रकार कोई बन्दी कारागृह में (इच्छा न होने पर भी) दु:ख सहन करता है, उसीप्रकार वे अपने पुरुषार्थ की निर्बलता से गृहस्थ अवस्था में रहते हैं, किन्तु रुचिपूर्वक भोगों की इच्छा नहीं करते; इसलिये उन्हें नि:शंकित और नि:कांक्षित अंग होने में कोई बाधा नहीं

आती।

(२) धर्म सेवन करके उसके बदले में सांसारिक सुखों की इच्छा न करना उसे नि:कांक्षित अंग कहते हैं।

(३) मुनिराज अथवा अन्य किसी धर्मात्मा के शरीर को मैला देखकर धृणा न करना उसे निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं।

(४) सच्चे और झूठे तत्त्वों की परीक्षा करके मूढ़ताओं तथा अनायतनो में न फँसना वह अमूढ़दृष्टि अंग है।

(५) अपनी प्रशंसा करानेवाले गुणों को तथा दूसरे की निंदा करानेवाले दोषों को ढकना और आत्मधर्म को बढाना (निर्मल रखना) सो उपगूहन अंग है।

टिप्पणी :- उपगूहन का दूसरा नम 'उपबृहण' भी जिनागम में आता है; जिससे आत्मधर्म में वृद्धि करने को भी उपगूहन कहा जाता है। श्री अमृतचन्द्रसूरी ने अपने पुरुषार्थसिद्धयुपाय के २७ वें श्लोक में भी यही कहा है :-

धर्मोऽभिवर्द्धनीय: सदात्मनो मार्दवादिभावनया।

परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृहगुणार्थम्।।२७।।

(६) काम, क्रोध, लोभ आदि किसी भी कारण से (समकित और चारित्र से) भ्रष्ट होते हुए अपने को तथा पर को पुन: उसमें स्थिर करना स्थितिकरण अंग है।

(७) अपने साधर्मी जन पर बछड़े से प्यार रखनेवाली गाय की भाँति निरपेक्ष प्रेम रखना सो वात्सल्य अंग है।

(८) अज्ञान-अन्धकार को दूर करके विद्या-बल-बुद्धि आदि के द्वारा शास्त्र में कही हुई योग्य रीति से अपने सामर्थ्यानुसार जैनधर्म का प्रभाव प्रकट करना वह प्रभावना अंग है।

इन अंगो (गुणों) से विपरीत १-शंका, २-कांक्षा, ३-विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, ५-अनुपगूहन, ६-अस्थितिकरण, ७-अवात्सल्य और ८-अप्रभावना - यह समकित के आठ दोष हैं, इन्हें सदा दूर करना चाहिए। (१२-१३ पूर्वार्द्ध)

'**समकित के आठ अंग (गुण) और शंकादि आठ दोष...**' यह व्यवहार समकित की बात चलती है, हाँ ! निश्चय में समकित में भेद नहीं है। यह तो भेदवाली श्रद्धा में ऐसे भेद-दोष हों उन्हें छोड़ना चाहिए। नहीं होना चाहिए।

जिन वचमें शंका न धार वृष, मव-सुख-वांछा भानै;
मुनि-तन-मलिन न देख धिनावे, तत्त्व-कुतत्त्व पिछानै।
निज गुण अरु पर औगुण ढाके, वा निजधर्म बढ़ावै;
कामादिक कर वृषतैं चिगते, निज-परको सु दिढावै॥१२॥

गाथा १३ (पूर्वार्ध)

धर्मी सों गौ-वच्छ-प्रीति सम, कर जिनधर्म दिपावै;
इन गुणतैं विपरीत दोष वसु, तिनकों सतत खिपावै।

'**सर्वज्ञदेव के कथित तत्त्वों में संशय-संदेह धारण नहीं करना...**' लो ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- संदेह अर्थात् क्या ?

उत्तर :- संदेह नहीं करना कि ऐसा होगा या नहीं ? भगवान के कहे तत्त्व ऐसे होंगे या नहीं ?

मुमुक्षु :- ऐसे के ऐसे मान लेना ?

उत्तर :- हाँ, समझकर ऐसे के ऐसे मान लेना। समझने के लिए आशंका होती है, परन्तु इन भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर जिनवरदेव एक समय में त्रिकाल (के ज्ञाता) परमेश्वर ने जो कहा, उसमें उसे शंका नहीं होती। सर्वज्ञ परमेश्वर ने तीन काल - तीन लोक जाने हैं। समझ में आता है ? बाहर की बात अभी यह सब चन्द्र-फन्द्र का आता है, वह सब गौण कर डाले, उसमें कुछ दूसरा होगा ? उसमें शंका नहीं करे। समझ में आया ? अभी तो बहुत धमाल चली है न ? हमें पक्रित को पूछना पड़ा था। कितना लम्बा कहे और कितना कहे ? क्या कहते है ? उसके

साथ कुछ मेल नहीं है।

'**सर्वज्ञदेव द्वारा कथित तत्त्वों में...**' भगवान के द्वारा कथित छह द्रव्य, परमेश्वर द्वारा कथित छह द्रव्य अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्तिकाय (एक) अधर्मास्तिकाय और आकाश – इनके अन्तरभेद के रूप में नव तत्त्व, यह भगवान ने कहे हैं। इनमें उसे सदेह नहीं होता, क्योंकि सर्वज्ञपद आत्मा ही प्रतीति में आया है, उसे दूसरे सर्वज्ञ द्वारा कथित तत्त्व, उसके ज्ञान में भले प्रत्यक्ष न भासे, परन्तु उनकी शंका का स्थान नहीं होता। समझ में आया ?'**(नि:शंकित अंग है)।**' इसका नाम नि:शंकित अंग है – समकित का पहला व्यवहार अंग है। समझ में आया ? व्यवहार की बात है, हाँ ! निश्चय के आये हुए शास्त्र में, वहाँ 'समयसार' में। वहाँ आठ निश्चय (अंग) आये हैं, आत्मा के अन्दर में। यह तो जिनवचन में शब्द पड़ा है न ? परवचन/परवस्तु ली है न ? आत्मा में अन्दर नि:संदेह, नि:शंक हो जाना। वहाँ 'समयसार' में यह बात है, हाँ !

(दूसरा) नि:कांक्षित अंग है। उसे कांक्षा-इच्छा नहीं होती। शंका नहीं होती। समझ में आया ? नि:शंक... नि:शंक। माँ की गोद में पड़ा हो, उसे शंका नहीं होती है। क्यों होगी ? कोई मारने आयेगा तो मुझे बचायेगी या नहीं बचायेगी ? सर्वज्ञ की वाणी, परमात्मा ने कहा है, बहुत प्रकार का गंभीर तत्त्व है, गहरा है; बहुत अपेक्षाओं वाला है – ऐसा जानकर उसमें शंका नहीं करता। परमेश्वर वीतरागदेव त्रिलोकनाथ, जिन्होंने एक सेकेण्ड के असंख्यातवें भाग में परमेश्वर ने तीन काल – तीन लोक प्रत्यक्ष वीतराग भाव से देखा है। समझ में आया कुछ ? ऐसे वीतराग परमेश्वर द्वारा कथित तत्त्वों को पहिचानना तो सही ? समझ में आता है न ? पहिचानकर शंका नहीं करना। नि:शंक रूप से परमेश्वर कहते हैं, उसे आत्मा के भानसहित में व्यवहार में मानना। समझ में आया ?

'**नि:कांक्ष धर्म को धारण करके (भव-सुख-वांछा) सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं करे...**' देखो ! सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव, व्यवहार धर्म में भी धर्म को धारण करके भवसुख की वांछा (नहीं करता)। समझ में आया ? (उसे) भव सुख (की) वांछा नहीं होती। देखो ! '**वृष, भव-सुख वांछा भानै;...**' भव के सुख की वांछा का नाश करे। देखो ! आहा..हा... !

भवसुख वांछा.. भवसुख की वांछा, ऐसा। जहाँ आत्मा के आनन्द की प्रतीति और भान हुआ है – ऐसा जीव व्यवहार में भी भवसुख की वांछा, संसार–सुख की इच्छा नहीं करता। कहो !

मुमुक्षु :– धर्म करने का प्रयोजन क्या ?

उत्तर :– धर्म करने का प्रयोजन अन्दर शुद्धता प्रकट करना वह (है)। धर्म करने का प्रयोजन स्त्री, पुत्र मिलना यह है ? धर्म करे तो सुखी होगा। पुत्र और पैसा और धूल मिले वह... ? मिलती कब है ? इसके पास तो ममता मिलती है।

यहाँ तो कहते हैं, भव की इच्छा में भव में सुख ही नहीं है। उसकी वांछा ही नहीं होती। देखो ! चारों गतियों में दु:ख में है, उसके बदले सुख की इच्छा करे – स्वर्ग में जाऊँ, देव होऊँ, ऐसा करुँ – ऐसी वांछा भानै – नष्ट करे। यह वांछा नहीं होती। आहा..हा... ! समझ में आया ? भले उसे पुण्य भाव हो जाए और स्वर्गादि मिले परन्तु उसकी वांछा नहीं है। समझ में आया ? यहाँ तो जहाँ–तहां मन्नत में भगवान के नाम से भगवान को मानना है – लड़का होगा तो ऐसा चढ़ाऊँगा, अमुक होगा तो ऐसा करूँगा, केसर चढ़ाऊँगा, बहुत केसर... बालक होगा तो केसर चढ़ाऊँगा। करोड़ रूपयेवाले को लाख का केशर चढाना होवे तो क्या ? धूल में भी नहीं। महा शंकावाला है, कहते हैं। उसे आत्मा का भान नहीं है। वीतरागदेव का धर्म कैसा है ? उसका उसे पता नहीं है। आहा..हा... ! समझ में आया ? लो ! यहाँ मांगलिक सुने तो स्वस्थ रहेंगे; विवाह किया है, वे ऐसे के ऐसे अच्छे रहेंगे, ऐसे रहेंगे, वैसे रहेंगे।

मुमुक्षु :– परन्तु वह मांगलिक सुने किसलिए ?

उत्तर :– वह तो शुभभाव के लिये है। एक शुभभाव होता है। शुभभाव, बस ! उसमें ऐसी वांछा नहीं होती कि नवदंपति सब अच्छा रहे, अपना सब सुख ठीक रहे – ऐसी समकिती को व्यवहार समकित में भी भव के सुख की वांछा नहीं होती। आहा..हा... ! यह तो कितने सुरधन और माता और .. तावड़ी... तावड़ी है। तावड़ी आती है, मुफ्त में शब्द नहीं आता। हजारों तावड़ी, तावड़ी, माता है, वहाँ हजारों तावड़िया पड़ी होती है। देवी के पास। तावड़ी मानते है, मूर्ख.. ! मूर्खों के गाँव कहीं अलग होंगे ? भाई ! मूर्खों के गाँव कहीं अलग होंगे ? हर गाँव में (मूर्ख) पड़े होते हैं।

मुमुक्षु :- नयी या पुरानी ?

उत्तर :- नयी, उसे नयी चढ़ाते हैं। हजारों पड़ी है, रास्ते में हजारो (पड़ी है)। किस जगह है ? कुछ पता है ? कहीं आता है। यहाँ तो बहुत घूमे है न ! हजारों तावड़ियों के ढेर। ऐसे आते है, ऐसे। कितनी तावड़ियों के ढेर हाँ ! पचास-पचास हजारों तावड़ियों के ऐसे बड़े ढेर के ढेर (पड़े होते हैं)। दुनिया को क्या है ? रोटियों के भिखारी..., तावड़िया चढ़ाएँगे तो अपने को रोटी-बोटी ठीक से मिलेगी। भिखारी है।

वीतराग परमेश्वर को माननेवाले सर्वज्ञदेव को माननेवाले को ऐसी वांछा नहीं होती। समझ में आया ? आहा..हा...! कहा नहीं था ? हम (संवत्) २००६ में 'सरा.. सरा' गये थे। 'सरा' में उपाश्रय में उतरे थे, लोगों को प्रेम तो था न ! भले बदल डाला, परन्तु सबको पूर्व का प्रेम था न ! ढाल-बैंण्ड लाकर सामने अगवानी की, उपाश्रय में उतरे, हाँ ! नाम बड़ा इसलिए लोग उपाश्रय में तो समाते नहीं थे; बड़ी पाठशाला थी, बहुत लोग एकत्रित हुए थे। (वहाँ से) वापस लोटे, उनका एक व्यक्ति प्रमुख है। (वह कहने लगा), माता है, दो हजार रुपये देती है, उसे मांगलिक सुनाओ। मैंने कहा - कोई वृद्ध... सेठानी होगी। बारह महीने दो हजार देती होगी, लाओ न मांगलिक सुनायें कहाँ इन्कार करुं। व्याख्यान बहुत दूर था। इस किनारे नदी और उस किनारे उपाश्रय; इसलिए बीच में आता था। अपने को पता नहीं, जब वहाँ आये तो मेलड़ी माता। मेलड़ी माता सत्य है, अन्दर गये, मैंने कहा अपने को तो अब जरुर देखना। अन्दर गये तो उसके लकड़ी के होते है न ? उसके उपर हाथ रखा। ऊपर हाथ रखा। महराज ! इसे मांगलिक सुनाओ। उसे ऐसा कि महाराज का मांगलिक हो तो दो हजार के पाँच हजार हो जाएँ। महाराज का मांगलिक अलग प्रकार का है, परन्तु मूर्ख यह क्या है परन्तु यह ? यह जैन में नहीं होता, कहा। ऐसी लकड़ी को मांगलिक सुनाना, किसे सुनाना इसमें ?

मुमुक्षु :- मेलड़ी माता के स्थान में ?

उत्तर :- हाँ, उसके स्थान में बड़ा मकान है। 'दोशी परिवार' में उसे मानते हैं। स्थानकवासी, मेलड़ी माता को मानते हैं, उसे धूनते हैं, उसे मानते हैं। प्रौषध करनेवाले, सामायिक करनेवाले... उनकी कुलदेवी, उन्हें मेरा विश्वास था न ! महाराज का मांगलिक

(अर्थात्) आहा..हा... ! उन लोगों को देखो न कितना है ! भले सम्प्रदाय छोड़ दिया परन्तु उसकी महिमा तो अपार लगती है। इसलिए महाराज मांगलिक सुनाये तो सुनेंगे... परन्तु किसे सुनाना ? बापा ! अरे.. ! ऊपर से देव उतरे तो धर्मी जीव उन्हें नहीं चाहता। क्या बोलते हो ? मैंने उन्हें ऐसा कहा, हाँ ! देव ऊपर से उतरे और कहे कि तुम्हें यह दूँ, क्या बात (करते) है ? सुने फिर हाँ ! ऐसा नहीं कि महाराज झूठ कहते हैं। द्वेष नहीं, अरुचि नहीं। रात्रि में वापस एकत्रित हुए तब कहा - महाराज ! ऐसा हमें पता नहीं, हाँ ! ऐसा हमें पता नहीं, बापू ! धर्म दूसरी बात है, बापा ! यह सामायिक, प्रौषध करनेवाले जैन ऐसी मेलड़ियों को मानते हैं। हम धर्मी है, बापा ! यह तो तू धर्म को लजाता है। परन्तु वस्तु का पता नहीं है। यह तो निश्चय के बिना भी व्यवहार का ठिकाना नहीं है। देव ऊपर से उतरे तो भी तू क्या कर सकता है ? मेरे पुण्य के बिना पाई मिले - ऐसा नहीं है और असाता का उदय होवे तो तू इन्द्र आवे तो तीन काल में रोक सके - ऐसा नहीं है। मेरी शान्ति और प्रतीति तो मेरे पास है। मुझे क्या करना है देव का ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :- देव होवे तो रूपये दे।

उत्तर :- धूल (भी) रूपये नहीं देता। अभी कहा न ? फिर भी यह तो बेचारा स्पष्ट कहता है। 'राजकोट' में है न ? (एक भाई की) बहु के पास देव आता है, कोई देवी आती है, परन्तु नाम स्पष्ट नहीं कहती। अपने (एक भाई: है न ? उनका एक मुनीम है। एक देवी आती है। सो। दौ सौ, तीन सो रूपये छोड़ जाती है। वैसे दिखायी नहीं देती। अभी तक पन्द्र-सोलह हजार रुपये हुए हैं। ऐसा कह जाती है कि तीनसो पड़े हैं, दो सो पड़े हैं; इसलिए उन्हें उठाकर फिर बैंक में जमा कर आवे, फिर वह नहीं ले जाती। सोलह हजार हुए हैं, अभी यहाँ आये थे, तब कहते थे कि सोलह हजार हुए हैं, परन्तु वह स्पष्ट कहते है कि देखो ! हम तो दिगम्बर जैन हैं और परमेश्वर को माननेवाले हैं; हम (अन्य) किसीको नहीं मानते, तू पैसे रख तो भी हम नहीं मानते - ऐसा कहते हैं। वह पूछे - कौन है तू ? तो बोलते हैं, अम्बाजी। अम्बाजी (न हो) परन्तु कोई पूर्व का प्रेम होता है। पैसा छोड़ जाती है, दो सौ, पचास, सो, तीन सो, पाँच सो। गद्दे में पाँच सो हैं, देखो ! ऐसा कहे (और निकले)। अभी तक सोलह हजार हुए हैं। बैंक में रखे हैं। वह कहते हैं, एक बार पैसे रखे और मैंने नहीं लिये तो ले गयी, इसलिए रखते ही

साथ ले लूं। बैंक में रख आऊँ, परन्तु स्पष्ट बात करती है, हम मानते नहीं, हाँ ! तेरे पैर नहीं पड़ते – ऐसा कहते हैं, भाई ! हाँ ! हम किसीके पैर नहीं पड़ते, वीतराग परमेश्वर के अलावा; वीतरागदेव के गुरु-सन्त और परमात्मा के अलावा हम किसी के पैर नहीं पड़ते। तू कौन है ? कहे, तो भी हम पैर पड़नेवाले नहीं हैं। यों पैसेवाले हैं, वैसे अभी साधारण नौकरी करते हैं। उनकी लड़की 'भोपाल' में है। अरे.. ! देव होवे तो भी क्या ? क्या दे देगा हमें ? धर्मी को, जिसे आत्मा की श्रद्धा है...

मुमुक्षु :- नगद दे...

उत्तर :- परन्तु नगद देकर आत्मा को क्या हुआ ? उसने क्या किया ? वह तो पुण्य था। पुण्य होवे तो वह आता है। इसके पुण्य बिना वह आता नहीं। तीनकाल में आ नहीं सकता। यहाँ पुण्य होवे तो आता है। (हमें) पुण्य भी नहीं चाहिए तो फिर तेरे पैसे हमें कहाँ चाहिए है ? धर्मी की ऐसी श्रद्धा अन्दर होती है। यह तो लालापेठा ठिकाने बिना के। ऐसा कहते है, भगवान को माननेवाले और माने ऐसे ठिकाने बिना के हो उन्हे, आहा..हा... ! आदर करते हैं, हाँ ! प्रेम से, घर ले गये। महाराज ! फिर से पधारना – ऐसा कहते। बेचारें भले भोले लोग। यह वीतराग का मार्ग क्या है और पमरेश्वर ने आत्मा क्या कहा ? आत्मा। उसका पता नहीं मिलता, उसे व्यवहार धर्म का तो ठिकाना नहीं मिलता। भाई !

इस (भाई के) पैसे ले गये। नहीं कहा ? चार हजार रुपये गये हैं। कितने ? चालीस हजार। यह परदावाला नहीं ? यह कहे कि, मैंने मकान लिया, वह शंकास्पद था परन्तु मैंने तो लिया, परन्तु माल चला जाता है। अलमारी में माल भरा हो, वह चला जाता है। रोटी, दाल, चावल किये हो वह चला जाए। अलमारी में, वह क्या कहलाता है लोहे का ? स्टील के बर्तन तीन-तीन हजार के भरे हों, वे चले जाते हैं। चालीस हजार का गया। बाद में मकान बेच दिया। क्या है यह कुछ पता नहीं, कुछ पता नहीं चलता; चला जाता है – यह सत्य है। जिसने मकान लिया, उसे कुछ नहीं होता, उसे कुछ जाता नहीं; इसलिए पाप का उदय हो, उसका जाता है। इसमें दूसरा कौन करे ? व्यर्थ का भ्रम करता है। यह बात सत्य है, इसके चालीस हजार गये हैं, हाँ ! यह कहता था। समझ में आया ?

धर्मी जीव, पर की कांक्षा करता ही नहीं। ऐसा रोग मिट जाए तो इसे मानूँ; इसका ऐसा होवे तो मानूँ – ऐसा भ्रम अज्ञानी को होता है। व्यवहार धर्म में निश्चय समकिती को ऐसा न होवे तो बेवजह व्यवहार धर्मवाले को होता नहीं। निश्चय के बिना भी व्यवहार धर्मवाले को ऐसी कांक्षा नहीं होती समझ में आया ?

'**(भव-सुख-वांछा)**...' देखो ! यहाँ तो पूरी गति की ही बात की है। देव के सुख की ही इच्छा नहीं। देव के सुख की... यहाँ के वर्तमान की पैसे की (बात) तो कहाँ रही ? ऐसी वांछा सम्यग्दृष्टि को व्यवहार में नहीं होती। आहा..हा... ! बहुत बदल गया, बहुत मान्यता चलती है न ? महावीरजी में चलती है न ? भाई ! महावीरजी में, पदमपुरी.. लोग धुने और वह जाए। यह जैन के नाम से वीतराग परमेश्वर में ऐसे वाड़ा (सम्प्रदाय) चलते हैं। परमेश्वर, जिन्हें सौ इन्द्र तो पूजते हैं। जिनके जन्म के पहले माता के पेट को साफ करने इन्द्र आते हैं – ऐसे जो भगवान, ऐसे तीर्थंकर उन्हें जब सर्वज्ञपना हुआ और जब (केवल) ज्ञान हुआ और उपदेश किया – ऐसे परमेश्वर को माननेवाले को ऐसी कांक्षा नहीं होती। देखो ! भव सुख की वांछा कही है, हाँ !

'**मुनियों के शरीर इत्यादि मलिन देखकर**...' इत्यादि कहा है। '**(मुनि तन)**'... सच्चे दिगम्बर मुनि होते हैं। उन्हें आत्मध्यान, ज्ञान, आनन्द का अन्दर अनुभव होता है। शरीर में नहाना-धोना नहीं होता; मलिन शरीर भी हो परन्तु धर्मी को उसकी मलिनता देखकर धृणा नहीं करना... ग्लानि नहीं होती। शरीर की स्थिति ऐसी है। शरीर अशुचि से भरा हुआ है। मुनि तो आत्मा की देखभाल करनेवाले हैं, उन्हें कहीं शरीर की देखभाल नहीं होती। इसी तरह कोई विष्टा का ढ़ेर देखे, सड़ा हुआ कुत्ता-बिल्ली देखे तो धृणा नहीं आती। वह तो परमाणुओं की पर्याय है, उसमें किसकी ग्लानि करनी ? समझ में आया ? शरीर सड़ता है न ? बड़ा भाठा होता है न, वह क्या कहलाता है ? फोड़ा... फोड़ा... फोड़ा दुर्गन्धित होता है, सड़ता है... परन्तु वह तो परमाणुओं की पर्याय है। उसे ऐसा देखकर धृणा-ग्लानि न करे। समझ में आया ?

एक सेठ को ऐसा फोड़ा हुआ... ऐसी गन्ध दे। किस प्रकार खाना ? शेरो करे, एकदम

उतारे। वरना सड़ गया इसलिए इतनी गन्ध मारे। एकदम शेरो करके मुँह में डाल दे, वरना उल्टी होजाए। यह शरीर की दशा (है), बापू ! यह तो परमाणु-मिट्टी है। उसकी पर्याय कैसी होगी - यह किसी के आधार से नहीं है। धर्मी जीव को उसकी धृणा नहीं हो सकती। समझ में आया ? एक गधा दुर्गन्धित सड़ा हुआ, हाँ ! रात्रि में मरने की तैयारी। ऐसे शरीर गन्ध मारता है। यह सब सड़ गया था। ऐसा सड़ा हुआ तो ऐसे गन्ध मारे, हाँ ! साथवाले कहने लगे - मांगलिक सुनाओ, महाराज ! तो सुनाया।

'**(तत्त्व-कुतत्त्व) सच्चे और झूठे तत्त्वों की पहिचान रखे, वह अमूढ़ दृष्टि...**' उलझता नहीं, सम्यग्दृष्टि उलझता नहीं; निःशंक निमूढ़ होता है। निमूढ़-अमूढ़ समझ में आता है ? भगवान के द्वारा कथित सच्चे तत्त्व और उनसे विरुद्ध अज्ञानीयों के द्वारा कथित (मिथ्यातत्त्व)। परमेश्वर वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कथित तत्त्व, उनसे विरुद्ध अज्ञानीयों द्वारा कथित तत्त्व-दोनों को जानता है कि इसमें बड़ी भूल है। उलझता नहीं है। अज्ञानी तत्त्ववाले गुरु आदि हों, (उन्हें) हाथी के ओहदे पूजे, राजा पूजे, देव पूजे तो (ज्ञानी को) ऐसा नहीं लगता कि इसमें कुछ होगा ! यह क्या है ? यह सब तो पुण्य के ठाठ हैं, इसमें धूल में क्या आया ? सच्चे-खोटे तत्त्व की पहिचान में धर्मी उलझता नहीं है, भाई ! प्रवीण होता है - ऐसा कहते हैं। लिया या नहीं ? '**तत्त्वों की (पीछानै)...**' पीछाने (अर्थात्) प्रवीण होता है उसमें होशियार होता है। सम्यग्दृष्टि, मिथ्या-सच्चे तत्त्वों में उलझता नहीं है। समझ में आया ? कुतत्त्व के माननेवाले की इज्जत देखे, बड़ी सभा देखे, ओहो..हो..! बड़े-बड़े राजा मानते हैं, इसलिए कुछ होगा ? अब राजा माने या देव माने - उसमें क्या है ? देव भी मानते हैं। ऐसे मूढ़ देव नहीं होते ? समझे न ?

जिसे सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग परमात्मा द्वारा कथित आत्मा की श्रद्धा हुई है, उसे व्यवहार श्रद्धा में कुतत्त्व और सुतत्त्व की शंका नहीं होती; उलझन में नहीं आता कि इसमें क्या निर्णय करना ? एक ऐसा कहता है, एक ऐसा कहता है, वे कहते हैं कि व्यवहार से होता है, वे कहते हैं कि निश्चय होवे तो व्यवहार को व्यवहार कहा जाता है। अरे..! परन्तु यह क्या होगा ? भगवान ! निर्णय करना चाहिए प्रभु ! बापू ! अनन्तकाल में ऐसा मनुष्यपना मिला है; आँखे बन्द हो जाएगी (और) कहाँ चला जाएगा, बापा ! कोई शरण नहीं है, कोई शरण नहीं है।

समझ में आया ? वीतराग परमेश्वर द्वारा कथित तत्त्वों में, किसके कुतत्त्व है और भगवान के सुतत्त्व क्या हैं ? (उसमें) उलझन में नहीं पड़ता; तुलना करके भलीभाँति पहिचान करता है। समझ में आया ?

'**(निज गुण) अपने गुणों को और दूसरे के अवगुणों को छिपावे...**' आहा..हा...! क्या कहते हैं ? अपने गुण प्रकट हुए हों, उन्हें बाहर प्रसिद्ध करने का ढ़िंढोरा नहीं पीटता। आहा..हा...! ऐ..ई..! समझ में आया ? क्या काम है ? दुनिया माने तो गुण की शुद्धि बढ़ती है ? तथा न माने और निन्दा करे तो कोई गुण की शुद्धि घट जाती है ? भाई ! समझ में आया ? आहा..हा...! अपने गुणों को ढँकता है। आहा..हा..! समझ में आया ? जो गुण प्रकट हुए हों, उनकी प्रसिद्धि होवे तो ठीक, दुनिया माने तो ठीक, दुनिया को अधिक पता लगे तो ठीक – ऐसी भावना उसे नहीं होती है। (प्रसिद्धि होने से) क्या लाभ है ? और दुनिया स्वीकार न करे, इसमें उसे क्या नुकसान है ? आहा..हा...! समझ में आया ?

'**और दूसरे के अवगुणों को...**' जगत के अवगुण हैं, उन्हें बाहर प्रसिद्ध करुँ तो उसकी अवहेलना होगी – ऐसी इच्छा आुसे नहीं होती है। उसके अवगुण बाहर प्रकट हो तो यह तो पाप का उदय होगा तो लोग उसका अनादर करेंगे; वरना अवगुण बाहर प्रसिद्ध हों और फिर भी उसका पुण्य होगा तो लोग उसका आदर करेंगे। तुझे क्या काम है ? ऐ... यह प्राणी ऐसा है, यह प्राणी ऐसा है... समझ में आया ? दूसरे के अवगुण बाहर प्रकट करने से तुझे क्या लाभ है ? तेरे गुण बाहर प्रसिद्ध न होवे तो तुझे क्या नुकसान है ? और दूसरे के अवगुण दुनिया न जाने तो तुझे क्या नुकसान है ? आहा..हा...! देखो न ! व्यवहार समकित में भी कितनी बात है ?

मुमुक्षु :- किसकी बात करते हो ?

उत्तर :- आत्मा की। किसकी बात करते हैं यह ? यह किसके आत्मा के लिए बात चलती है ? किसके लिए बात चलती है ?

मुमुक्षु :- बात किसकी है ?

उत्तर :- बात आत्मा की। समझ में आती है ? आहा..हा...! पहले तुम्हारी लड़की नहीं आयी थी ? जातिस्मरणवाली यहाँ आयी थी न ? अब आयेगी। उसे कहते तो हैं, लावे तब

सही। उसकी फिर सेवाचाकरी करनी पड़े न ? थोड़ा-बहुत रखना पड़ता होगा न ? यह सब लोग देखना चाहते हैं। इस (भाई के) घर से कहते थे, लो, मुम्बई जानेवाले हैं ? परन्तु लड़की ? यहाँ आवे न, होगा या नहीं ? यहाँ तुम्हारी बड़ी बहिन नहीं ? यह लोग अधिक आये तो देखेंगे या नहीं ? लोग आयेंगे तो देखेंगे तो सही न ! उसके लिये तो पहले से कहा था। तुम्हारा घर नहीं ? बड़ी बहिन का नहीं ? मुझे तो दूसरा कहना था। उसकी थोड़ी बाहर प्रसिद्धि हुई तो लोगों में ऐसा हो गया कि आहा..हा..हा... ! समझ में आया ? फिर मैंने एक बहिन से कहा कि बहिन ! यह तुम्हारी बात कहाँ ? और वह कहाँ ? (तो कहा कि) बाहर प्रसिद्धि का क्या काम है ? आहा..हा... ! उस समय की शैली देखी होवे तो पता चले। समझ में आया ? परन्तु बाहर क्या है ? दुनिया माने या लोग पहिचाने, उसका हमें काम क्या है ? समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि उसे इस प्रकार का विकल्प नहीं होता। अपने गुण प्रसिद्ध करना और दूसरे के अवगुण ढ़ांकना; प्रसाद्ध नहीं करना। प्रसिद्ध करके (उसे) क्या नुकसान ? तुझे क्या लाभ ? समझ में आया ? यह समकित का गुण है। समझ में आया ? दूसरे बोल विशेष है, वे कहेंगे। (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❋

डॉ. गींगुली :- आत्मज्ञान होने पर तो ये व्रतादि राग हैं - ऐसा भासित होता है, परन्तु आरंभमें आत्मज्ञान तो शीध्र ही नहीं होता न ?

पू. गुरुदेव श्री :- शीध्रका अर्थ - इसका अभ्यास करना चाहिए । राग क्या है, आत्मा क्या है, मैं त्रिकाल टिकने वाली वस्तु कैसी हूँ (आदिका) अभ्यास कर-ज्ञानकर, रागसे भिन्न आत्माका अनुभव करना - यह पहली बात है । आत्माको जाने बिना इसके सभी क्रिया-कांड अरण्य-रोदनसमान है । अन्तरमें आत्मा आनन्द-स्वरुप भगवान चैतन्य-तेजका पुँज प्रभु है । उसका ज्ञान न हो, अन्तर दशाका वेदन न हो, तब तक अज्ञानीके सभी क्रिया-कांड झुठे हैं । सम्यक्दर्शन प्राप्त करना दुर्लभ है, सर्वप्रथम सम्यक्दर्शन प्राप्त करनेका ही प्रयत्न होना चाहिए। (परमागमसार - २६२)